

शिक्षा प्रणाली में लोकतंत्र के बीज

रचनात्मक साहित्य को उसके परिवेश के अंग के रूप में देखना जरूरी है। यह 'परिवेश' सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का गुणात्मक प्रतिफल है। अपनी रचनाओं में सामाजिक यथार्थ को बारीकी से उभारने वाले साहित्यकार अपने समय और समाज की कठिन परिस्थितियों से टकराते हैं। वे हालात से पैदा हुई संवेदना को महसूस करते हुए साहित्य लिखते हैं। इसमें उनकी युगदृष्टि छिपी होती है। अपने युग को समझने और उसकी समस्याओं को परत-दर-परत खोलने, कभी-कभी समस्या से मुक्ति की राह दिखाने की तमाम कोशिशों के माध्यम से यह युगदृष्टि उभरती है। अक्सर इस युगदृष्टि में बेहतर समाज का सपना भी छिपा होता है। व्यापक परिवेश की सच्चाई तथा अनगिनत अर्थ छायाओं को समेटे हुए रचनात्मक साहित्य को सिर्फ साहित्य के दायरे में रहकर देखना या फिर उसकी पृष्ठभूमि को ऊपरी तौर से समझकर उसका विश्लेषण करना न्यायसंगत नहीं हो सकता है। विद्यालय स्तर से ही विद्यार्थी रचनात्मक साहित्य को उसके परिवेश के आधार पर देखने और समझने के बजाय उसे स्वतंत्र पाठ के रूप में देखते हैं। महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय स्तर तक पहुँचकर भी विद्यार्थी इस रवैये से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाते। लेकिन सोचने वाली बात यह है कि किसी समय के यथार्थ को बारीकी से उभारने वाली रचना जिस समय की उपज है, उस समय के इतिहास को जाने बगैर उस रचना को सही अर्थों में समझना संभव नहीं है।

दरअसल साहित्यकार की रचनाएं उसके युग के समाज का संवेदनात्मक दस्तावेज होती हैं। उनका निश्चित रूप से ऐतिहासिक संदर्भ है। मानव संबंधों से जुड़ी कोई एक छोटी सी सच्चाई जिसका ऐतिहासिक घटना से सीधा ताल्लुक नहीं होता, उसका इतिहास में जिक्र नहीं मिलता, वह छोटी-सी सच्चाई ही कभी-कभी मानव संवेदना पर अपना गहरा असर छोड़ने के कारण किसी बड़ी रचना को जन्म दे सकती है। इस लिहाज से देखें तो साहित्यिक रचना के कल्पना के आवरण में युग का इतिहास कलात्मक रूप से सांसें लेता है। दरअसल युगीन इतिहास में जहाँ युग का यथार्थ सीधे सपाट ढंग से व्यक्त होता है, वही रचनात्मक साहित्य में युगीन यथार्थ का जनमानस पर पड़ने वाला असर सूक्ष्म रूप से दर्ज होता जाता है। इतिहास में सामान्यतः घटनाओं या युगीन हालात को मद्देनजर रखते हुए उसके संबंध में विशिष्ट धारणाएं पेश करने की प्रवृत्ति प्रबल होती है। लेकिन रचनात्मक साहित्य में घटना या हालात का असर जीवन और समाज के विविध प्रसंगों के जरिए अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्ति पाता है। उपर्युक्त संदर्भ में प्रेमचंद की 'सवा सेर गेहूँ' कहानी देखें। इस कहानी का किसान शंकर एक ब्राह्मण से 'सवा सेर गेहूँ' उधार लेता है। ब्राह्मण को बिना बोले ही वह सवा सेर से कहीं ज्यादा गेहूँ उसे खलिहानी के रूप में लौटा भी देता है। लेकिन इस घटना के सात साल बाद ब्राह्मण उसी उधार दिए हुए गेहूँ के बदले में शंकर से ठीक एक महाजन की तरह सूद वसूलता है। शंकर भी खुद पर ब्राह्मण का कर्ज स्वीकारते हुए उसका ऋण चुकाने को धर्म मानकर शोषण की चक्की में पिसने की राह चुन लेता है। इसी क्रम में वह ब्राह्मण का गुलाम बन जाता है। ब्राह्मण, शंकर की मृत्यु के बाद ऋण के लिए उसके बेटे का गला पकड़ लेता है। बेटा भी पिता की तरह गुलामी में जुट जाता है।

इस कहानी को भारत के इतिहास से जोड़कर देखे बगैर यह समझना मुश्किल है कि यह महालवाड़ी व्यवस्था से पैदा हुई एक ट्रेजेडी है। यह वही महालवाड़ी व्यवस्था है, जिसका इतिहास में जिक्र मिलता है। इसके संबंध में अभिजीत बैनर्जी और लक्ष्मी अय्यर का कहना है, "भारत के उत्तर पश्चिम प्रांतों तथा पंजाब में महालवाड़ी व्यवस्था चालू थी। इसके तहत गाँवों पर आधिपत्य रखनेवाले वर्ग पर मालगुजारी वसूलने का उत्तरदायित्व था।" महालवाड़ी व्यवस्था के तहत मालगुजारी तय करते वक्त किसानों की जाति भी देखी जाती थी। इस संदर्भ में इतिहासकार पोर्टर का कथन देखा जा सकता है। उसका कहना है- "मालगुजारी तय करने के

लिए प्राथमिक तौर पर मिट्टी के गुण को देखा जाता था। साथ ही किसान की जाति, उसके सिंचाई की क्षमता और खाद के बारे में उसकी समझ को भी देखा जाता था।”

गाँव के प्रभुत्वशाली वर्ग के पास मालगुजारी वसूलने का अधिकार था। गाँव के प्रभुत्वशाली वर्ग में ब्राह्मण शामिल थे। इस लिहाज से देखें तो ब्राह्मणों की दोनों ओर से चांदी थी। एक ओर प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग होने के नाते मालगुजारी वसूलने का हक था। दूसरी ओर ब्राह्मण होने के नाते नीची जाति के किसानों को दबाने का मौका था। वे किसानों को दोनों हाथों से लूट रहे थे। भारत के उत्तर पश्चिमी प्रांत में महालवाड़ी व्यवस्था के तहत ब्राह्मणों को मिली सुविधाओं के बारे में एक बात गौर करने लायक है कि यह व्यवस्था ब्राह्मणों को अर्थिक दृष्टि से समृद्ध बना रही थी। इसके कारण ब्राह्मण महाजन में रूपांतरित हो रहे थे। उनमें महाजनी मूल्य प्रवेश कर चुके थे। ‘सवा सेर गेहूँ’ कहानी में ब्राह्मण से गेहूँ लेने के बाद जो सात साल बीत गए, उन सात सालों में ब्राह्मण दरअसल ब्राह्मण से महाजन बन गया था। शंकर तब भी ब्राह्मण को अपने संस्कारों के अनुसार देवतुल्य मानकर बैठा था। प्रेमचंद के युग में शंकर जैसे न जाने कितने किसान थे, जो महाजनों के शोषण की चक्की में पिस रहे थे। यहाँ एक बात पर ध्यान देना जरूरी है कि ब्राह्मणों के महाजन में रूपांतरण के कारण छोटे किसानों और ब्राह्मणों के आपसी संबंधों में एक तनाव पैदा हुआ था। यही तनाव ‘सवा सेर गेहूँ’ कहानी की मूल संवेदना है। इस लिहाज से देखें तो रचनात्मक साहित्य को युगीन इतिहास से काटकर देखना संभव नहीं है।

दरअसल केवल इतिहास नहीं, सामाजिक विज्ञान के वर्ग में शामिल अन्य कई विषयों के साथ भी रचनात्मक साहित्य को जोड़कर देखना जरूरी है। किसानों और ब्राह्मणों के संबंध में आया यह तनाव शंकर को ब्राह्मण के सामने न सिर्फ घुटने टेकने के लिए मजबूर करता है, बल्कि उसे गुलाम बनने के लिए बाध्य भी करता है। इस हालात पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना भी जरूरी है।

मनोविज्ञान में मानसिक स्वास्थ्य की अवधारणा मिलती है। वर्ल्ड हेल्थ ऑर्गेनाइजेशन के अनुसार “मानसिक स्वास्थ्य मस्तिष्क की एक ऐसी स्थिति है जिसके तहत व्यक्ति अपनी क्षमताओं को महसूस करते हुए जीवन की साधारण कठिनाइयों का सामना करता है और अपने कार्यों से समाज को भी लाभ पहुँचाता है।” इस में कोई दो राय नहीं है कि हालात के दबाव ने शंकर के सोचने समझने की शक्ति छीन ली थी। वह ब्राह्मण के अन्यायपूर्ण प्रस्ताव का खुलकर विरोध करने के बजाय उसकी गुलामी स्वीकार कर लेता है। शंकर के इस फैसले के लिए ब्राह्मण के दबाव के अलावा उसके अपने संस्कार भी उत्तरदायी हैं। बदलते वक्त के साथ अपने को न सुधारने के कारण यही संस्कार शंकर के पैर की बेड़ियाँ बन गए। गौर करने लायक बात यह है कि प्रेमचंद को गुजरे एक जमाना बीत जाने के बाद भी 21वीं सदी के समाज में ‘सवा सेर गेहूँ’ कहानी जैसे हालात जिन्दा हैं। इस संदर्भ में 16 सितंबर सन् 2008 में अंबरीश कुमार की ‘विदर्भ के गांव में सवा सेर गेहूँ’ शीर्षक से लिखी रिपोर्ट देखी जा सकती है। उनके अनुसार “मुंशी प्रेमचंद की कहानी ‘सवा सेर गेहूँ’ विदर्भ के गांव में चरितार्थ होती नजर आ रही है। हर गांव में कर्ज में डूबे किसान की खुदकुशी अब आम बात हो गई है। यवतमाल के बोध वोडम गांव में चौदह किसान खुदकुशी कर चुके हैं। ...महाजन से खाद लेकर किसान खाद बीज पानी का इंतजाम करता है और यही फसल बरबाद हो गई तो जहर खा लेता है।” गौर करें कि इस रिपोर्ट और ‘सवा सेर गेहूँ’ कहानी में दो भिन्न युगों की बातें दर्ज हैं। लेकिन इनमें किसानों और महाजनों के बीच के तनाव और इस तनाव से बर्बाद होते किसान की हकीकत एक जैसी है। इससे एक बात स्पष्ट है कि 21वीं सदी में भी महाजनों के शोषण की चक्की में पिसते किसानों को उनके मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए मनोवैज्ञानिक परामर्श की जरूरत है।

समाज के हालात में गुणात्मक सुधार लाने के लिए सिर्फ मनोवैज्ञानिक परामर्श काफी नहीं है। इस समस्या पर अर्थशास्त्रीय दृष्टि से भी विचार करना होगा। शंकर जैसे छोटे किसानों की बर्बादी के साथ भारत की आत्मनिर्भर कृषि व्यवस्था भी चरमरा रही थी। इसका प्रभाव अर्थव्यवस्था पर पड़ना स्वभाविक था। इस लिहाज

से देखें तो प्रेमचंद की 'सवा सेर गेहूँ' कहानी का शंकर अर्थशास्त्रियों के लिए भी कई सवाल खड़े करता है। अर्थ से संबंध रखने के कारण यह समस्या वर्तमान समाज के एक चर्चित विषय 'बिज़नेस ऐडमिनिस्ट्रेशन' का अध्ययन करने वाले विद्वानों को भी सोचने पर मजबूर करती है। 'बिज़नेस ऐडमिनिस्ट्रेशन' में वित्तीय व्यवस्था पर विचार का मुद्दा भी शामिल है। अमोल अग्रवाल आर्थिक विषय से संबंधित शोधपत्र में लिखते हैं, "वित्तीय व्यवस्था विकासशील देशों के लिए किस तरह मददगार साबित हो सकती है, इस विषय पर असंख्य शोध कार्य हो चुके हैं। लेकिन वित्तीय व्यवस्था आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा देने के साथ-साथ गरीबी और भूख जैसी समस्याओं के लिए कैसे मददगार साबित हो सकती है, ये विषय शोध के दायरे से बाहर रह गए हैं।" अर्थशास्त्र या बिज़नेस ऐडमिनिस्ट्रेशन की शिक्षा हासिल करने वाला शिक्षित मध्यवर्ग यदि गांव के गरीब किसानों को अर्थ संबंधी जटिल समस्याओं से बाहर निकालने के रास्ते पर विचार न करें तो विदर्भ जैसे तमाम गाँवों में किसानों की आत्महत्या जैसी समस्या समाज को अंधेरे में धकेलती रहेंगी। सरकार, महाजनों से ऋण लेने से जुड़ी समस्याओं से अपने तरीके से जूझ रही है। आज वित्त संबंधी चर्चाओं में 'फिनानशियल इन्क्लूशन' की बात बढ़-चढ़ कर हो रही है। "फिनानशियल इन्क्लूशन का उद्देश्य उन गरीबों को महाजनों के चंगुल से निकालना है जो वित्तीय सहयोग हासिल करने के लिए किसी औपचारिक वित्तीय संस्थान में नहीं जा पाते।" सरकार की ओर से तमाम कोशिशों के बावजूद भारत के अधिकतर ग्रामों में यह सुविधा अभी तक नहीं पहुँच पाई है। इन सुविधाओं को भारत के अधिकतर ग्रामों तक कैसे पहुँचाया जा सकता है ? यह सोचने लायक विषय है। गौर से देखें तो शंकर जैसे किसानों की समस्या के आर्थिक, मानसिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक चार स्तर हैं। इस तरह की समस्याओं से टकराने के लिए एक मुहिम की जरूरत है। महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के विद्यार्थी ऐसे मुहिम की वकालत कर सकते हैं। लेकिन इसके लिए विद्यार्थियों को न सिर्फ इस समस्या की जड़ों से बल्कि वक्त के साथ इस समस्या की प्रकृति में आए बदलाव, इस समस्या के वर्तमान स्वरूप, इस समस्या को बनाए रखने वाले तत्वों से भी परिचित होना होगा। तभी वे इस समस्या से जूझने के लिए नई दृष्टि का विकास कर पाएंगे। कृषक जीवन पर लिखा साहित्य अगर सिर्फ रचनात्मक साहित्य की जागीर बन कर रह गया, अगर इसे ऐतिहासिक और आर्थिक संदर्भों से जोड़कर नहीं देखा गया तो 21वीं सदी तक चली आई शंकर जैसे किसानों की जटिल समस्या का बोध किसी को भी पूर्ण रूप से नहीं हो पाएगा। ऐसे बोध का अभाव उच्च स्तरीय शिक्षा की उपादेयता पर भी प्रश्न चिन्ह लगाता है। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों को यदि इस समस्या की व्यापकता का बोध हो तो वे इतिहास, अर्थशास्त्र, बिज़नेस ऐडमिनिस्ट्रेशन तथा राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थियों के साथ नेटवर्क स्थापित करके इस समस्या से निपटने के लिए मुहिम छेड़ने की पहल कर सकते हैं। इस तरह स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा वृहद सामाजिक उद्देश्य से भी जुड़ पाएगी।

महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा को वृहद सामाजिक उद्देश्यों से जोड़कर देखने के अभाव की वजह से आज विद्यार्थियों में अच्छा अंक पाकर अच्छी नौकरी हासिल करने के उद्देश्य से ही विषयों को पढ़ने की प्रवृत्ति देखी जाती है। ये विद्यार्थी सहपाठियों के साथ एकजुट होकर सामाजिक कार्य करने की बात सोचने के बजाय अपने सहपाठियों को अपना प्रतिद्वंद्वी मानकर न सिर्फ स्वार्थी बनते हैं, बल्कि अंधी प्रतिद्वंद्विता के दौर में भी शामिल हो जाते हैं। यह भाव उनमें एक अनावश्यक तनाव पैदा करता है। इतना ही नहीं इस अंधी दौड़ में शामिल होकर भी यदि अच्छे अंक या अच्छी नौकरी न मिले तो वे अकेलेपन, घुटन, संत्रास और उदासीनता के गह्वर में खो जाते हैं। इस तरह आज का समाज उसके विकास में सहायक साबित होने वाली युवा शक्ति को खोता चला जा रहा है। इतना ही नहीं यह शक्ति राजनीति के प्रभाव से दिग्भ्रमित होकर अपनी संभावनाएं खोती जा रही है। यह बाजारवादी मूल्यों का असर है। इसे पूंजीवाद का 'प्रोपोगैंडा' कहा जा सकता है। इसके असर को कम करने के लिए शिक्षा को वृहद सामाजिक उद्देश्यों से जोड़ना जरूरी है। इसके लिए विद्यार्थियों को व्यवहारिक स्तर पर सामाजिक कार्य करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। यह सोच विद्यार्थियों में इस भावना

का भी संचार कर सकती है कि नौकरी न पाने की हालत में वे समाज कल्याण संबंधी परियोजनाओं को अंजाम देने के कार्य को आजीविका का साधन बना सकते हैं, बशर्ते उन्हें ऐसे कार्य करने का सही तरीका एवं आर्थिक सहयोग हासिल करने की राह मालूम हो।

समस्या संकुल वर्तमान समाज में नानाविध सामाजिक समस्याओं के लिए सरकार को जिम्मेदार ठहराते हुए सरकार की नाकामियाबी की बात बढ़-चढ़ कर उभारना आम बात हो गई है। आम शिक्षित व्यक्ति अपने अधिकारों की बात बढ़ चढ़ कर करते हैं पर अपने उत्तरदायित्वों को अक्सर भूल जाते हैं। इस संदर्भ में जिरेल्ड डब्ल्यू जॉनसन का कथन दृष्टव्य है। उनका कहना है, “व्यक्ति को कभी भी उत्तरदायित्व की गद्दी पर बैठे बगैर अधिकारों का उपहार नहीं मिलता।”

यहाँ एक बात ध्यान देने लायक है कि सरकार कोई व्यक्ति नहीं है जिससे सचेत होने की उम्मीद रखी जाए। शासकीय पदों पर आसीन अधिकारियों के पास कुछ शक्तियाँ हैं। लेकिन शक्ति का होना और उसका बेहतर समाज के निर्माण में प्रयोग करना दो अलग-अलग बातें हैं। दरअसल अधिकारियों की शक्ति का उचित प्रयोग उनकी मानसिकता, इच्छा एवं क्षमता पर निर्भर करता है। इन्हें सामाजिक हित की ओर मोड़ने के लिए अधिकारियों का मानव मात्र के अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों के प्रति सचेत होना आवश्यक है। शासकीय पद से ताल्लुक न रखने वाले शिक्षित व्यक्तियों को भी यह समझना होगा कि लोकतांत्रिक प्रणाली में जब आम आदमी चुनाव के जरिए सरकार बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, तब चुनाव की प्रक्रिया से बनी सरकार को समाज की बेहतरी के लिए अग्रसर करना क्या आम आदमी का उत्तरदायित्व नहीं है ? तब क्या उन्हें अपने उत्तरदायित्व को महसूस करते हुए इस कार्य में क्षमता के अनुरूप योगदान देने की बात पर विचार नहीं करना चाहिए ?

यह सर्वविदित है कि आम आदमी के हित के लिए काम करना आदर्श लोकतंत्र की एक विशेषता है। हकीकत का एक पहलू यह भी है कि लोकतंत्र में आम आदमी को दबाए जाने की वारदातें आम हो गई हैं। ऐसी वारदातों से पैदा हुई संवेदना से रचनात्मक साहित्य के पन्नें भरे पड़े हैं। इससे एक बात साफ है कि उच्च लोकतांत्रिक आदर्शों से युक्त लोकतांत्रिक व्यवस्था की कल्पना करना जितना आसान है, उसे सही मायने में स्थापित करना उतना ही कठिन। लोकतंत्र का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा आम आदमी है। अगर वह अपने अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों के प्रति सचेत न हो तो सही मायने में लोकतंत्र स्थापित नहीं हो सकता। केवल अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों के प्रति सचेत होना ही काफी नहीं है। अधिकारों के लिए संघर्ष करने तथा उत्तरदायित्वों को निभाने के तरीकों का भी ज्ञान होना आवश्यक है। तरीकों के ज्ञान के साथ अपनी क्षमताओं का ऐहसास और क्षमता के अनुरूप काम करने का अवसर और आजादी मिलना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। अन्य शब्दों में कहें तो आम आदमी की उपादेय कार्य करने की क्षमता, इच्छा, अवसर और आजादी गाड़ी के चार पहियों की तरह लोकतंत्र को सार्थक रूप से गतिशील बनाने में सहायक साबित हो सकते हैं।

भारत के संदर्भ में इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि वैविध्य से भरे वर्तमान समाज में विविध व्यक्तियों की क्षमताओं को पहचानना और उन क्षमताओं के हिसाब से कौशलात्मक प्रशिक्षण के जरिए व्यक्ति को मानव संसाधन का रूप देने की कोशिश करना बेहद जरूरी है। आज जब विकृत पूंजीवादी मूल्यों के चलते समाज में पूंजी और सत्ता को ही क्षमता का आधार माना जाने लगा है तब क्षमता की अवधारणा पर समाजोपयोगी नजरिए से विचार करना और भी जरूरी हो जाता है।

दरअसल जन साधारण की क्षमताओं की नींव पर ही गंभीर आर्थिक-सामाजिक समस्याओं से निपटने के लिए विकल्पों और संभावनाओं की नई जमीन तक पहुँचने की सीढ़ी बन सकती है। अपने ‘इयूमन राइट्स ऐण्ड केपेबिलिटीस’ आलेख में अमर्त्य सेन भी गरीबी के संदर्भ में वैकल्पिक संभावनाओं की बात करते हैं। उनका कहना है, “गरीबी पर लिखे गए प्राचीन रचनात्मक साहित्य लोगों की सुस्ती और निष्क्रियता पर केन्द्रित होने के

बावजूद उनमें अभिव्यक्त लोगों की भुखमरी और पीड़ा का एक बड़ा कारण वैकल्पिक संभावनाओं का अभाव था।”

गरीबी जैसी समस्या से बाहर निकलने के लिए वैकल्पिक संभावनाओं की खोज के विषय पर एक महत्वपूर्ण शोधकार्य हो सकता है। लेकिन शोधकर्ताओं द्वारा विकसित सिद्धांत या दिए गए निष्कर्ष व्यवहारिक स्तर पर तब तक कामगर साबित नहीं हो सकते जब तक दरिद्रों में गरीबी से बाहर निकलने की इच्छा के साथ अपनी क्षमताओं को विकसित करके अपनी मदद स्वयं करने की चाहत न पैदा हो। इस लिहाज से देखें तो गरीबी की समस्या का एक सिरा मानसिक स्तर से भी जुड़ता है। जो इस समस्या को और जटिल बना देता है।

भारत जैसे देश में इस समस्या के व्यापक विस्तार को देखते हुए एक बात स्पष्ट रूप से उभरती है कि इस समस्या से निपटने के लिए देश भर में फैले हुए किसी ऐसे वर्ग की जरूरत है जिसे कर्मशील, सचेतन तथा नैतिकतापूर्ण रवैये से कार्य करने के लिए प्रेरित किया जा सके। इस वर्ग का ऐसी व्यवस्था से ताल्लुक होना आवश्यक है, जिसका सरकार से सीधा संबंध हो। इस वर्ग में जनसाधारण के बीच पहुँचकर व्यवहारिक स्तर पर कार्य करने की ताकत होनी चाहिए। ताकि गरीबी हटाने के लिए एक मुहिम छेड़ी जा सके। गौर से देखें तो शिक्षा व्यवस्था से जुड़े वर्ग में व्यापक संभावनाएं मौजूद हैं। खासकर महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों से जुड़े प्राध्यापकों के निर्देशन में विद्यार्थी सामाजिक कार्यों को अंजाम दे सकते हैं।

सरकार के निर्देशन में विश्वविद्यालयों के अधीन महाविद्यालय अपने जिले के पिछड़े इलाके को कार्यक्षेत्र के रूप में चुन सकते हैं। साल के अंत में विश्वविद्यालय यदि सामाजिक कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट पेश करें तो साल भर में सामाजिक कार्यों में शिक्षा व्यवस्था के योगदान की स्पष्ट छवि मिल सकती है। ध्यान देने लायक बात यह है कि उपर्युक्त सामाजिक कार्यों के जरिए विद्यार्थियों को अपने किताबी ज्ञान को व्यवहारिक स्तर पर प्रयुक्त करने का मौका मिलना चाहिए। इससे विद्यार्थी न सिर्फ ज्ञान की सामाजिक उपादेयता को समझ पाएंगे बल्कि शिक्षा पद्धति की एकरसता भी टूटेगी और शिक्षा विद्यार्थियों के लिए सृजनात्मक बनेगी।

रचनात्मक साहित्य के धरातल से देखें तो हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों को शिक्षा के माध्यम से व्यवहारिक स्तर पर लोगों को जागरूक बनाने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। इसके लिए रचनात्मक साहित्य में यथार्थ की छवि को बारीकी से उभारने वाले साहित्यकारों की कृतियों को पाठ्यक्रम में जगह देनी होगी। इसी के साथ विद्यार्थियों को इन कृतियों में व्यक्त समस्याओं की जड़ों, उनके वक्त के साथ बदलते रूप, उनके वर्तमान स्वरूप से भी परिचित करवाना होगा। साथ ही विद्यार्थियों को समस्याओं की व्यापकता का ऐहसास दिलाने के लिए रचना को सामाजिक विज्ञान के वर्ग के अन्य विषयों से जोड़कर देखने के लिए भी प्रेरित करना होगा। इस नजरिए से हासिल ज्ञान से विद्यार्थी किसी पिछड़े हुए इलाके की समस्याओं के अनुरूप परियोजनाओं की परिकल्पना कर सकते हैं। मसलन अलग-अलग समस्याओं के लिए सचेतन शिविरों, चित्र प्रदर्शनियों, समस्याओं के प्रति सचेत करने वाले गीतों की रचना एवं नृत्य नाटकों की प्रस्तुति, पोस्टर प्रदर्शनियों, नुक्कड़ नाटकों की प्रस्तुति के माध्यम से पिछड़े हुए इलाके के लोगों में नई आशा का संचार किया जा सकता है। आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर की समस्याओं के लिए विद्यार्थी मनोविज्ञान तथा अर्थशास्त्र का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों या शोधकर्ताओं से नेटवर्क स्थापित कर समस्या पर विचार करने का रास्ता खोल सकते हैं। इस लिहाज से देखें तो हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम में विज्ञान के अन्य विषयों की तरह व्यवहारिक कार्य को जगह दी जा सकती है। लेकिन इसके लिए पाठ्यक्रम के विषयों का चयन सतर्कता से करना जरूरी है।

व्यवहारिक स्तर पर सामाजिक कार्य करते हुए विद्यार्थी यह महसूस कर पाएंगे कि सिद्धांत और व्यवहार में कितना अंतर है। विषयों से प्राप्त ज्ञान को व्यवहारिक स्तर पर लागू करने के लिए ज्ञान में कांट-छांट की भी जरूरत पड़ती है। जीवन और समाज के लिए उपयोगी कार्य को अंजाम देने के लिए सिर्फ एक विषय से हासिल ज्ञान काफी नहीं होता। इसलिए अब उन तमाम विषयों पर भी नजर रखनी पड़ती है, जिसका ताल्लुक जीवन

और समाज से है। सामाजिक कार्य करने के लिए विद्यार्थियों को दलबद्ध होना होगा। दल के सदस्य के रूप में एकजुट होकर काम करने की प्रवृत्ति उनमें पनपते प्रतिद्वंद्विता के भाव को मिटा सकती है। इस तरह काम करते हुए वे महसूस करेंगे कि जिंदगी के सवाल किताबों के सवालों से काफी अलग हैं। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को जीवन के लिए तैयार करना है। जीवन का दायरा सिर्फ नौकरी तक सीमित नहीं है। प्रत्येक मनुष्य का एक सामाजिक दायित्व भी है। ये विद्यार्थी महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय में शिक्षा हासिल करते हुए इस दायित्व को निभाने की कला सीखेंगे। इससे शिक्षा प्रणाली में नैतिकता का समावेश हो जाएगा। डॉ० ए० पी० जे० कलाम भी शिक्षा को नैतिक मूल्यों से जोड़ने की बात करते हैं। उनका कहना था कि 'शिक्षा में नैतिक मूल्यों का समावेश आवश्यक है।' हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार मुक्तिबोध ने भी ज्ञान को जीवन से जोड़ने की बात की है। उनका कहना है, "ज्ञान रूपी दांत जिंदगी रूपी नाशपाती में गढ़ने चाहिए। जिससे संपूर्ण आत्मा जीवन का रसास्वाद कर सके।" दरअसल ज्ञान का प्रयोग यदि जीवन और समाज में न किया जा सके तो वह ज्ञान अधूरा है।

लोकतंत्र के चार खंबे माने गए हैं। विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं पत्रकारिता। इनमें से लोकतंत्र के चौथे खंबे पर जनसाधारण को जागरूक बनाए रखने का दायित्व है। मानवीय मूल्यों के हनन के इस दौर में लोग अपने आस-पास कुछ भी गलत होता हुआ देखकर जिंदा लाश की तरह आगे बढ़ जाते हैं। कोई गलत काम जब तक उनके लिए हानिकारक नहीं बनता, तब तक वे उसके विरोध में जबान नहीं खोलते। पत्रकारिता आज अधिकतर आम आदमियों के लिए या तो सूचना हासिल करने का साधन है या फिर मनोरंजन या वक्त गुजारने का साधन। पत्रकारिता के साधन तभी प्रभावशाली साबित हुए हैं जब उनके जरिए किसी व्यक्ति, वर्ग या समूह के संघर्ष करने की छवि को पेश किया गया है। सवाल चाहे जागरूकता पैदा करने का हो या समस्याओं से सीधे टकराने का, संघर्षशील व्यक्तियों का कोई विकल्प नहीं है। मेरा यह स्पष्ट विचार है कि शिक्षा को पांचवे खंबे के रूप में विकसित किए जाने पर विचार किया जाना चाहिए। ताकि शिक्षा विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी और रचनात्मक हो। इस बात पर आज गंभीरता से सोचने की जरूरत है कि शिक्षण पद्धति में कौन-कौन से बदलाव लाए जाएं ताकि शिक्षा में लोकतंत्र के बीज पनप सकें।